|| श्रीहरिः ||
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 16: दैवासुरसंपद्विभागयोग

1/2 (श्लोक 1-3), शनिवार, 20 दिसंबर 2025

विवेचक: गीता विशारद डॉ. संजय जी मालपाणी

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/WGY7Tqf2IZk

दैवीय सम्पदा के छब्बीस गुण

गीता परिवार के स्फूर्ति गीत के साथ सरस्वती वन्दना व दीप प्रज्वलन के पश्चात साधकों का अभिवादन किया गया। गुरुदेव परमपूज्य स्वामी श्री गोविन्ददेव गिरिजी महाराज की सूक्ष्म उपस्थिति और उस सम्पूर्ण गुरु-परम्परा जिनके माध्यम से यह ज्ञान प्राप्त हो रहा है, के चरण-कमलों का वन्दन करते हुए आज के विवेचन सत्र का प्रारम्भ हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय **'दैवासुरसम्पद्विभागयोग'** के विवेचन से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि विवेचन के लिए अध्यायों का जो क्रम (बारहवाँ, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ) अपनाया गया है, वह पारम्परिक क्रम (पहले से अट्ठारहवाँ) से भिन्न है। श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः एक धर्म-ग्रन्थ है, जहाँ **धर्म का सीधा-सा अर्थ हमारे कर्त्तव्य हैं।**

धर्म के विविध स्वरूपों को उदाहरणों से समझा जा सकता है:

एक पिता द्वारा अपने बच्चे का ध्यान रखना **'पितृ धर्म'** है।
एक माँ द्वारा अपने बच्चे का पालन-पोषण करना **'मातृ धर्म'** है।
एक पुत्र द्वारा अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करना **'पुत्र धर्म'** है।
एक पत्नी द्वारा अपने पति और परिवार का ध्यान रखना **''पत्नी धर्म'** है।
एक सैनिक का सीमा पर आतङ्कियों से युद्ध करना **'सैनिक धर्म'** व **'राष्ट्र धर्म'** है।
एक नागरिक का अपने राष्ट्र से प्रेम करना भी **'राष्ट्र धर्म'** का पालन है।

अतः **धर्म का मूल अर्थ कर्त्तव्य ही है**। श्रीमद्भगवद्गीता की रचना का मुख्य उद्देश्य कर्त्तव्यों का बोध कराना ही है क्योंकि अर्जुन अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो गये थे। एक क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन का यह कर्त्तव्य था कि वह आततायियों का वध करें और उन्हें देह-दण्ड दें। यह स्थिति वैसी ही है जैसे कोई आतङ्की सीमा पार करके देश में प्रवेश करता है तो सीमा-रक्षक सैनिक उसे मृत्यु-दण्ड देते हैं। सैनिकों की उन आतङ्कियों से कोई व्यक्तिगत शत्रुता नहीं होती। इसी प्रकार, कसाब को मृत्यु-दण्ड सुनाने वाले न्यायाधीश की उससे कोई व्यक्तिगत शत्रुता नहीं थी। वे अपने पद पर बैठकर न्याय-धर्म का पालन कर रहे थे। यह दण्ड किसी वैर के कारण नहीं अपितु कर्त्तव्य-पालन के लिए दिया गया था।

अर्जुन भी इसी प्रकार कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये थे, जब उन्होंने युद्धभूमि में अपने गुरु, पितामह, बन्धु-बान्धवों और मामा शल्य को अपने

विपक्ष में खड़े देखा। शल्य जो नकुल और सहदेव के सगे मामा थे, आसुरी वृत्तियों के कारण कौरवों के पक्ष में थे।

इसके पीछे एक प्रसङ्ग है। शल्य को मदिरापान का व्यसन था। दुर्योधन यह जानता था और **"व्यसनेषु सख्यम्"** (समान व्यसन वालों में मित्रता होती है) की उक्ति के अनुसार, उसने शल्य को मदिरा पिलाकर नशे की अवस्था में उससे वचन ले लिया। दुर्योधन ने स्वयं को शल्य का मित्र बताते हुए पाण्डवों के विरुद्ध होने वाले युद्ध में उसका साथ माँगा और नशे में होने के कारण शल्य वचनबद्ध हो गया। इस प्रकार, अपने ही मामा को शत्रु-पक्ष में देखकर अर्जुन भयभीत और चिन्तित हो गये।

उस समय रणाङ्गण में दुर्योधन के पास ग्यारह अक्षौहिणी तथा पाण्डवों के पास केवल सात अक्षौहिणी सेना थी। दुर्योधन अपनी सेना को **'पर्याप्तम्'** अर्थात् अत्यधिक शक्तिशाली मानता था, परन्तु कौरवों की सेना में दो अक्षौहिणी सेनाएँ ऐसी थीं, जो मन से उनके साथ नहीं थीं।

पहली, शल्य की एक अक्षौहिणी सेना, जो वचनबद्ध होने के कारण वहाँ उपस्थित तो थी, परन्तु अपने भाञ्जों, पाण्डवों के विरुद्ध हृदय से युद्ध नहीं कर सकती थी।

दूसरी, श्रीभगवान् की नारायणी सेना, जो वास्तव में पाण्डवों की होनी चाहिए थी। श्रीकृष्ण ने यह विकल्प दिया था कि एक पक्ष उन्हें (निःशस्त्र) चुन ले और दूसरा पक्ष उनकी सेना को।

दुर्योधन की इच्छा सेना लेने की ही थी, क्योंकि वह शस्त्र न उठाने वाले श्रीकृष्ण को अनुपयोगी समझता था, परन्तु चयन का पहला अवसर अर्जुन को मिला, क्योंकि श्रीभगवान् ने जागने पर सर्वप्रथम अपने चरणों के पास बैठे अर्जुन को ही देखा। अर्जुन ने सेना के स्थान पर श्रीभगवान् को ही माँगा। यह देखकर दुर्योधन मन-ही-मन प्रसन्न हुआ कि अर्जुन ने मूर्खता में एक अक्षौहिणी नारायणी सेना छोड़ दी, जो अब कौरवों के पक्ष में थी।

इस प्रकार, कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना में से शल्य और नारायणी सेना की दो अक्षौहिणी सेनाएँ घटा दी जाएँ तो नौ शेष बचती हैं और यदि वे ही पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना में जोड़ दी जाएँ तो वहाँ भी नौ हो जाती हैं, जिससे सैन्य-बल समान हो जाता। श्रीकृष्ण ने अपनी नारायणी सेना को कौरव-दल में गुप्तचरों की भाँति भेजा, ताकि वहाँ की सूचनाएँ मिलती रहें। वे स्वयं अर्जुन के सारथी बने क्योंकि वे भविष्य में होने वाली घटनाओं को जानते थे। वे जानते थे कि द्रोणाचार्य के वध के पश्चात् जब कर्ण सेनापति बनेगा तो उसे एक कुशल सारथी की आवश्यकता होगी और वह सारथी शल्य ही बनेगा।

श्रीकृष्ण ने युद्ध से पूर्व ही शल्य के शिविर में जाकर उनसे भेंट की। शल्य ने वचनबद्ध होने की विवशता बताई तो श्रीकृष्ण ने उन्हें कौरव-पक्ष में रहते हुए ही एक कार्य करने का परामर्श दिया। अगले दिन जब कर्ण के सारथी का प्रश्न उठा तो दुर्योधन ने शल्य से अनुरोध किया। मद्र-नरेश शल्य, जो पाण्डु की पत्नी माद्री के भाई थे, ने एक राजा होते हुए एक सूतपुत्र का सारथी बनने से पहले अस्वीकार किया, परन्तु दुर्योधन के आग्रह पर वे दो शर्तों के साथ तैयार हुए:

1. पहली शर्त यह थी कि कर्ण उनके सारथ्य-कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा।
2. दूसरी शर्त यह थी कि वे केवल सारथ्य करेंगे, अन्य कोई कार्य नहीं।

दोनों शर्तें स्वीकार कर ली गईं। अगले दिन जब शल्य, कर्ण के सारथी बनकर रथ पर बैठे तो उसने श्रीकृष्ण के परामर्श के अनुसार कर्ण का मनोबल तोड़ना आरम्भ कर दिया। उन्होंने रथ के शिविर से बाहर निकलते ही अपशकुन का उल्लेख किया— जैसे कि घोड़े का बायाँ पैर पहले बाहर निकलना और पैर का मुड़ जाना और कहा कि इन अपशकुनों के कारण कर्ण की विजय असम्भव है। आगे चलकर, जिस स्थान पर अभिमन्यु का वध हुआ था, वहीं कर्ण के रथ का पहिया भूमि में धँस गया। जब कर्ण ने पहिया निकालने के लिए शल्य से सहायता माँगी तो शल्य ने अपनी दूसरी शर्त का स्मरण दिलाते हुए सहायता करने से मना कर दिया और कहा कि वह केवल सारथ्य ही करेंगे।

शल्य का यह व्यक्तित्व **आसुरी सम्पदा** का प्रतीक है जो व्यसन के कारण स्वजनों के ही विरुद्ध खड़ा हो गया। इसी पृष्ठभूमि में श्रीभगवान् श्रीमद्भगवद्गीता के विभिन्न अध्यायों में ज्ञान का क्रम स्थापित करते हैं। दसवें अध्याय में वे अपनी विभूतियाँ, ग्यारहवें में विराट रूप, बारहवें में भक्तियोग, तेरहवें में क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग (अर्थात् शरीर और आत्मा का ज्ञान), चौदहवें में गुणत्रयविभागयोग तथा पन्द्रहवें में पुरुषोत्तमयोग का वर्णन करते हैं। इसी क्रम में वे सोलहवें अध्याय में **दैवासुरसम्पद्विभागयोग** का उपदेश देते हैं, जिसमें दैवीय और आसुरी गुण-सम्पदाओं का विस्तार से वर्णन है।

श्रीभगवान् ने **छब्बीस दैवीय गुण-सम्पदाओं** की एक विस्तृत सूची प्रस्तुत की है। इन गुणों का उदय होना इस बात का सङ्केत है कि भक्त आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति कर रहा है। जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व आकाश में लालिमा फैल जाती है, उसी प्रकार भक्ति-पथ पर चलने वाले व्यक्ति में ये दैवीय गुण सहज रूप से प्रकट होने लगते हैं। मानव-जीवन देवत्व और असुरत्व के मध्य एक चौराहे के समान है, जहाँ मनुष्य को यह चयन करने का अवसर मिलता है कि वह दैवीय गुणों को अपनाकर उन्नति करे अथवा आसुरी गुणों को अपनाकर पतन की ओर जाए। इसी सन्दर्भ के साथ श्रीभगवान् दैवीय गुण-सम्पदाओं का वर्णन आरम्भ करते हैं।

16.1

श्रीभगवानुवाच
अभयं(म्) सत्त्वसंशुद्धिः(र्), ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं(न्) दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।16.1।।

श्रीभगवान बोले – भय का सर्वथा अभाव; अन्तःकरण की अत्यंत शुद्धि; ज्ञान के लिये योग में दृढ़ स्थिति; सात्त्विक दान; इन्द्रियों का दमन; यज्ञ; स्वाध्याय; कर्तव्य-पालन के लिये कष्ट सहना और शरीर-मन-वाणी की सरलता।

16.2

अहिंसा सत्यमक्रोधः(स्), त्यागः(श्) शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं(म्), मार्दवं(म्) ह्रीरचापलम्।।16.2।।

अहिंसा, सत्य भाषण, क्रोध न करना, संसार की कामना का त्याग, अन्तःकरण में राग-द्वेष जनित हलचल का न होना, चुगली न करना, प्राणियों पर दया करना, सांसारिक विषयों में न ललचाना, अन्तःकरण की कोमलता, अकर्तव्य करने में लज्जा, चपलता का अभाव।

16.3

तेजः क्षमा धृतिः(श्) शौचम्, अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं(न्) दैवीम्, अभिजातस्य भारत।।16.3।।

तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, वैर भाव का न होना (और) मान को न चाहना, हे भरतवंशी अर्जुन ! (ये सभी) दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (लक्षण) हैं।

विवेचन- श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि दैवीय सम्पदा से युक्त पुरुष के लक्षणों में सर्वप्रथम है **"अभयम्"**, अर्थात् भय का पूर्ण अभाव। भय का अभाव तभी सम्भव है, जब अन्तःकरण में विशुद्धता हो। जिसके मन में पाप होता है, वही भयभीत होता है; परन्तु अन्तःकरण की पवित्रता निर्भयता को जन्म देती है। इसी कारण यह कहा गया है कि **"जो निडर होता है वही लीडर होता है"** अर्थात् निर्भय व्यक्ति ही नेतृत्व करने में सक्षम होता है।

दूसरा गुण **"सत्त्वसंशुद्धिः"** अर्थात् अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता है।

तीसरा गुण **"ज्ञानयोगव्यवस्थितिः"** है, जिसका अर्थ है तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान-योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति का होना।

इसके पश्चात् **"दानं- दमश्च- यज्ञश्च"** का वर्णन है। सात्त्विक दान करने वाला व्यक्ति दैवीय सम्पदा से युक्त माना जाता है।

दान के तीन प्रकार होते हैं, जिनका वर्णन आगे के अध्यायों में मिलता है। यद्यपि कर्ण एक महादानी था, तथापि उसका दान सात्त्विक नहीं, अपितु राजसी था। सात्त्विक दान में उपकार की भावना नहीं होती, जैसा कि सत्रहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में कहा गया है-

दातव्यमिति यद्दानं(न्), दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च, तद्दानं(म्) सात्त्विकं(म्) स्मृतम्॥

अर्थात्, जो दान देश, काल और पात्र को ध्यान में रखकर, बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के दिया जाता है, वही सात्त्विक दान है। जिस व्यक्ति में ऐसे दान की प्रवृत्ति का उदय होता है, उसमें दैवीय गुण प्रकट होते हैं।

अगला दैवीय गुण **"दमः"** अर्थात् दमन है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि दमन को दैवीय सम्पदा क्यों कहा गया है।

दमन का अर्थ है- स्वयं पर संयम रखना और अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित करना। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति को प्रातःकाल उठते ही चाय पीने की आदत हो और वह उसके बिना अपने नित्यकर्म भी न कर पाता हो, तो यह एक प्रकार की परतन्त्रता है। यदि वह व्यक्ति अपनी इस आदत पर नियन्त्रण करने का निश्चय करे तो आरम्भ में उसे कुछ दिनों तक शिरःपीड़ा जैसी कठिनाई हो सकती है, परन्तु कुछ दिनों के संयम के पश्चात् वह उस आदत से मुक्त हो जाता है। यही दमन की शक्ति है, जिसे दैवीय गुण कहा गया है।

बुरी आदतों से छुटकारा पाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् दमन आवश्यक है। अपने आहार-विहार को नियन्त्रित करना, सोने-जागने के समय को नियमित करना तथा अपने सम्पूर्ण क्रिया-कलापों पर विवेक का अङ्कुश रखना ही दमन है। यह आत्म-नियन्त्रण ही दैवीय सम्पदा है।

इसके पश्चात् **"यज्ञः"** को भी एक दैवीय गुण बताया गया है। सामान्यतः यज्ञ का अर्थ हवन-कुण्ड में समिधाओं और हविष्य की आहुति देना समझा जाता है। यद्यपि हवन यज्ञ का एक प्रकार है, तथापि यज्ञ के और भी अनेक स्वरूप हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः(स्) संशितव्रताः

श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है, जिनमें **स्वाध्याय-यज्ञ** भी एक है। यह विवेचन एक स्वाध्याय-यज्ञ का ही स्वरूप है, क्योंकि इसका उद्देश्य मात्र दूसरों को सुनाना नहीं, अपितु स्वयं का अध्ययन करना भी है। विवेचन का सजीव होना आवश्यक है, न कि पूर्व-अभिलेखित, क्योंकि इसका मूल भाव वक्ता के अपने अध्ययन में निहित है। स्वाध्याय अर्थात् 'स्व-अध्याय', जो स्वयं के लिए किया गया अध्ययन है, उसे भी एक यज्ञ और दैवीय गुण माना गया है।

दैवीय गुणों की सूची में अगला गुण **"तप"** है, जिसका अर्थ है स्वयं को तपाना। तप का अर्थ केवल ध्रुव या प्रह्लाद की भाँति कठोर साधना करना ही नहीं है, अपितु दैनन्दिन जीवन में भी छोटे-छोटे तप किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी गृहिणी के पड़ोस में कोई महिला अस्वस्थता के कारण चिकित्सालय में भर्ती हो तो उस गृहिणी द्वारा अपने अतिरिक्त समय और श्रम का उपयोग करके उस परिवार तथा चिकित्सालय में भर्ती महिला के लिए भोजन-पात्र भेजना एक तप है। इस कार्य में उसे अपनी क्षमताओं को विस्तार देना होता है।

स्वार्थ से परे, दूसरों के हित के लिए स्वयं को तपाना ही वास्तविक तप है।

जो व्यक्ति दूसरों के लिए स्वयं को तपाता है, वह दैवीय गुणों से सम्पन्न होता है। अपनी क्षमताओं का विस्तार करके दूसरों के लिए कुछ करना ही तपस्विता है। गीता परिवार के कई सेवी इसी तप का उदाहरण हैं। उनका प्रथम धर्म अपने सांसारिक कर्त्तव्यों (जैसे- गृहस्थी, व्यवसाय या नौकरी) का निर्वहन करना है। स्वामी जी का निर्देश है कि अपने मुख्य कर्त्तव्यों को पूरा करने के पश्चात्, बचे हुए समय का सदुपयोग परोपकार और श्रीमद्भगवद्गीता की सेवा में करना चाहिए।

स्वामीजी किसी को गृहकार्य छोड़कर गीताजी की सेवा करने का निर्देश नहीं देते हैं, अपितु समय बचाने का कौशल सीखने का परामर्श है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है-

"योगः कर्मसु कौशलम्"।

जब मन और बुद्धि एकाग्र होकर कार्य करते हैं, तो कार्य शीघ्रता और उत्कृष्टता से पूर्ण होता है। यदि मन कहीं और हो तथा शरीर अन्यत्र कार्यरत हो तो कार्य में न तो कुशलता आती है और न ही वह समय पर पूरा होता है। मन और बुद्धि के इसी तादात्म्य को 'योग' कहा गया है- **"समत्वं योग उच्यते"**। आसनों से शरीर का, प्राणायाम से श्वास का तथा संयम से इन्द्रियों का समत्व साधा जाता है। जब समत्व की यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब कर्मों में कुशलता आती है, जिससे समय की बचत होती है। इसी बचे हुए समय को सत्कार्यों में लगाना चाहिए।

गीता परिवार के प्रति समर्पित सोलह सहस्र स्वयंसेवी प्रतिदिन एक घण्टा सेवा हेतु प्रदान करते हैं। वस्तुतः यह उनकी सेवा नहीं, अपितु एक प्रकार का तप है जिसके माध्यम से वे स्वयं को तपाते हैं। यही कारण है कि वे दैवीय गुणसम्पदा से ओतप्रोत हैं।

श्रीभगवान् ने दैवीय गुणों का वर्णन करते हुए कहा है:

दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥"

दैवीय सम्पदा का अगला गुण है **"आर्जवम्"**। आर्जव का अर्थ है- मन, वाणी और व्यवहार में सरलता तथा विनम्रता का होना, जिससे कभी कटु वचन न निकलें।

वाणी के तप का विस्तृत वर्णन श्रीभगवान् ने सत्रहवें अध्याय में किया है।

अनुद्वेगकरं(वँ) वाक्यं(म्), सत्यं(म्) प्रियहितं(ञ्) च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं(ञ्) चैव, वाङ्मयं(न्) तप उच्यते

श्रीभगवान् वाणी के तप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **"अनुद्वेगकरं वाक्यम्"** अर्थात् ऐसे वचन बोलने चाहिए जो दूसरों के मन में उद्वेग उत्पन्न न करें। वाणी **"सत्यं प्रियहितं च यत्"** अर्थात् सत्य, प्रिय और हितकारी होनी चाहिए। कठोर तथा कटु शब्दों का प्रयोग 'मार्दव' (विनम्रता) के गुण के विपरीत है।

सत्य बोलना सीखो, प्रिय बोलना सीखो और हितकारी बोलना सीखो। दूसरों के मन के गुब्बारे फोड़ने वाली जिह्वा, इतने कठोर और इतने नुकीले शब्दों का प्रयोग करने वाली जिह्वा मार्दव नहीं कहला सकती। मार्दव का मतलब होता है विनम्रता। दूसरों के मन में उद्वेग न हो, इस प्रकार का काम आपको करना होगा।

वाणी के तप में **"स्वाध्यायाभ्यसनं चैव"** अर्थात् स्वाध्याय और उसके अभ्यास को भी सम्मिलित किया गया है। केवल श्रीमद्भगवद्गीता का पठन ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे जीवन में आत्मसात् करना भी आवश्यक है। जैसा कि स्वामी जी महाराज कहते हैं-

"श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ें, पढ़ायें और जीवन में लायें।"

इसका भाव यह है कि श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेशों का व्यावहारिक आचरण किया जाना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित छब्बीस दैवीय गुण जीवन में अपनाने योग्य हैं। इनमें से किसी एक गुण को चुनकर दिनभर उसके आचरण का अभ्यास किया जा सकता है।

अगला दैवीय गुण **"अहिंसा"** है। अहिंसा का अर्थ केवल हत्या न करना ही नहीं है। **'अहिंसा परमो धर्मः'** के साथ यह भी समझना आवश्यक है कि आततायी और समाज को क्षति पहुँचाने वाले व्यक्ति का दमन करना भी अहिंसा ही है। कसाब जैसे आततायी को दिया गया मृत्युदण्ड, जो सहस्रों लोगों की मृत्यु का कारण बना, वैदिक विचारों के अनुसार अहिंसा की ही श्रेणी में आता है, क्योंकि यह समाज को बड़ी हिंसा से बचाता है।

अहिंसा का वास्तविक पालन **मन, वचन और काया**—तीनों स्तरों पर होता है। किसी को अकारण कटु वचन कहना भी वाचिक हिंसा

है।

इसके पश्चात् श्रीभगवान् **"सत्य"** के गुण का उल्लेख करते हैं और सत्य के मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं, परन्तु कभी-कभी विभिन्न कर्त्तव्यों (धर्मों) के मध्य द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे 'धर्मयुद्ध' या 'धर्म-सङ्कट' कहते हैं।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः।

मामकाः(फ्) पाण्डवाश्चैव, किमकुर्वत सञ्जय॥

श्रीमद्भगवद्गीता का आरम्भ इसी धर्म-सङ्कट से होता है, जहाँ धृतराष्ट्र, सञ्जय से पूछते हैं कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में क्या हो रहा है। उनका प्रश्न है- **"मामकाः पाण्डवाश्चैव"**, अर्थात् 'मेरे पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?' यहाँ **"मामकाः"** (मेरे) शब्द उनके अहङ्कार और पुत्र-मोह को दर्शाता है। पाण्डु के निधन के पश्चात् एक पिता के समान पाण्डवों का पालन-पोषण करना उनका कर्त्तव्य था, परन्तु उन्होंने भेद-बुद्धि रखी।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि श्रीमद्भगवद्गीता का प्रथम श्लोक **"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"** से आरम्भ होता है, जिसका पहला अक्षर 'ध' है। वहीं, ग्रन्थ का सातसौवाँ और अन्तिम श्लोक, जो सञ्जय द्वारा कहा गया है, इस प्रकार है:

यत्र योगेश्वरः(ख्) कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिः(र्), ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥1

इस श्लोक का अन्तिम शब्द **"मम"** है, जो 'म' अक्षर पर समाप्त होता है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता 'ध' से आरम्भ होकर 'म' पर समाप्त होती है और इन दोनों अक्षरों के मध्य के सात सौ श्लोकों में **'धर्म'** अर्थात् कर्त्तव्यों की ही विस्तृत व्याख्या की गई है।

अर्जुन भी इसी धर्म-सङ्कट में फँस गये थे। उसके समक्ष एक ओर उनका **'परिवार-धर्म'** था और दूसरी ओर उनका **'क्षत्रिय-धर्म'**। वे परिवार-धर्म को अधिक महत्त्व देकर शोक में डूब गये थे। उसकी स्थिति **"अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्"** अर्थात् नेत्रों में आँसू भरे हुए, जैसी हो गई थी और उसके हाथ से धनुष छूटकर गिर गया था

गाण्डीवं(म्) स्रंसते हस्तात्, त्वक्चैव परिदह्यते।

न च शक्नोम्यवस्थातुं(म्), भ्रमतीव च मे मनः॥

अर्जुन का मन भ्रमित हो गया था। वे परिवार के मोह में ग्रस्त होकर शोक कर रहे थे और उनका शरीर कम्पित हो रहा था।

अर्जुन के समक्ष उनके क्षात्र-धर्म और परिवार-धर्म के मध्य द्वन्द्व था, जिसमें उस समय क्षात्र-धर्म ही प्रधान था। अर्जुन का यह कम्पन भय के कारण नहीं था, क्योंकि इससे पूर्व वे अनेकों बार अकेले ही सम्पूर्ण कौरव-सेना को पराजित कर चुके थे, जिसमें कर्ण भी सम्मिलित था। विराटनगर के युद्ध में, जब अर्जुन ने **बृहन्नला** का वेश धारण किया था, तब उन्होंने अकेले ही भीष्म, द्रोण और कर्ण सहित समस्त कौरव सेना को सम्मोहन-अस्त्र से मूर्छित कर दिया था और उनके उत्तरीय वस्त्र छीनकर उन्हें अपमानित किया था। वही पराक्रमी अर्जुन आज मोह से ग्रस्त होकर भयभीत हो रहे थे।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,

श्रेयो भोक्तुं(म्) भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,

भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥

अर्जुन कहते हैं कि अपने गुरुजनों और पितामह भीष्म जिन्होंने बाल्यावस्था में पिता के न होने पर उसका लालन-पालन किया था, उन पर बाण-वर्षा करने और उनके रक्त से सने (रक्तरञ्जित) हाथों से राज्य-भोग भोगने की अपेक्षा वे भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करना श्रेयस्कर समझते हैं।

यहाँ श्रीभगवान् समझाते हैं कि जब दो धर्मों के मध्य द्वन्द्व हो तो यह निर्णय करना पड़ता है कि कौन-सा धर्म प्रधान है और कौन-सा गौण। उस परिस्थिति में अर्जुन का क्षात्र-धर्म ही प्रधान था। इस प्रसङ्ग को एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। एक विद्यार्थी ने पूछा कि **'सत्य बोलना'** और **'पिता की आज्ञा का पालन करना'**—इन दोनों में से क्या श्रेष्ठ है? उसने बताया कि उसके पिता ने घर पर होते हुए भी दूधवाले से यह कहने का सङ्केत किया कि वे घर पर नहीं हैं। विद्यार्थी के समक्ष धर्म-सङ्कट था कि वह सत्य बोले या पिता की आज्ञा का पालन करे। अन्ततः उसने यह सोचकर पिता की आज्ञा का पालन किया कि यह कोई बड़ा असत्य नहीं है और सम्भवतः किसी विवशता के कारण ही उसके पिता ऐसा कह रहे हैं।

इस प्रकार, कभी-कभी दो धर्मों में से एक का चयन करना पड़ता है; परन्तु जहाँ ऐसा द्वन्द्व न हो, वहाँ **"सत्य"** का ही पालन करना चाहिए जो कि एक दैवीय गुण है।

अगला दैवीय गुण **"अक्रोधः"** अर्थात् क्रोध का अभाव है। मन में क्रोध का उदय न होने देना ही अक्रोध है। इस आसुरी गुण से दैवीय गुण की ओर जाने के लिए अभ्यास आवश्यक है। इसका एक उपाय यह है कि प्रतिदिन सोने से पूर्व यह लेखा-जोखा किया जाए कि दिनभर में कितनी बार क्रोध आया। यदि दिन में दस बार क्रोध आया हो, तो प्रत्येक क्रोध के लिए दस बार भगवन्नाम का जप करके, अर्थात् कुल सौ बार जप करने के पश्चात् ही शयन करना चाहिए।

इस गुण को साधने के लिए एक अद्भुत अभ्यास बताया गया है। जब भी क्रोध आए तत्काल दस बार भगवन्नाम का जप करना चाहिए। इस अभ्यास को निरन्तर करने से कुछ ही दिनों में क्रोध आने से पूर्व ही विवेक जाग्रत् हो जाता है और भगवन्नाम-स्मरण आरम्भ हो जाता है, जिससे क्रोध से मुक्ति मिल जाती है।

इसका एक उदाहरण 'ए.सी.-बी.सी. लेखा-जोखा' है। 'ए.सी.' अर्थात् **'क्रोध-नियन्त्रण' (Anger Control)** और 'बी.सी.' अर्थात् **'भगवत्-चिन्तन'**। प्रतिदिन यह लेखा-जोखा रखने से, कि कितनी बार क्रोध पर नियन्त्रण पाया और कितनी बार क्रोध आने पर भगवत्-चिन्तन करना पड़ा, पन्द्रह दिनों के भीतर ही क्रोध आने से पूर्व विवेक जाग्रत् होने लगता है।

दूसरों की भूल पर स्वयं को दण्ड देना ही क्रोध है। जब किसी अन्य की भूल पर क्रोध किया जाता है तो उससे उत्पन्न हुआ रक्तचाप स्वयं की ही आयु को क्षीण करता है, अतः, यह स्वयं को ही दी गई एक पीड़ा है, इसलिए क्रोध पर नियन्त्रण पाना अनिवार्य है। अक्रोध एक अत्यन्त सुन्दर दैवीय सम्पदा है।

इसके पश्चात् श्रीभगवान् **"त्यागः"** और **"शान्तिः"** जैसे गुणों का वर्णन करते हैं। मनुष्य स्वभावतः अशान्त है और प्रायः किसी भी क्रिया से पूर्व ही प्रतिक्रिया दे देता है। यदि सामने वाला व्यक्ति क्रोध में है हतो उस समय स्वयं को शान्त रखने का अभ्यास करना चाहिए।

उदाहरण के लिए, यदि मोटरसाइकिल चलाते समय किसी अन्य चालक से टक्कर हो जाए तो सामान्यतः क्रोध उत्पन्न होता है। उस क्रोधित अवस्था में वाहन चलाने से मन की अशान्ति के कारण दुर्घटना की सम्भावना बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में अपनी भूल न होते हुए भी, 'क्षमा करें' कहकर आगे बढ़ जाने से मन की शान्ति बनी रहती है। यह स्वयं को शान्त रखने का एक उपाय है।

शान्ति के पश्चात् **"अपैशुनम्"** नामक दैवीय गुण का उल्लेख है। 'पैशुनम्' का अर्थ है किसी की अनुपस्थिति में उसकी निन्दा करना या दोषारोपण करना। अतः, 'अपैशुनम्' का अर्थ है किसी के पीठ-पीछे उसकी बुराई न करने का स्वभाव। इस सामाजिक दुर्गुण की व्यापकता को एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। एक बहू के मायके से उसके भाई-भाभी आने वाले थे। उसने अपनी सास से अनुरोध किया कि वे अतिथियों का ध्यान रखें, क्योंकि उसे पाँच मिनट के लिए एक गोष्ठी (किटी पार्टी) में जाना है। सास के आश्चर्यचकित होकर कारण पूछने पर बहू ने समझाया कि उस गोष्ठी में यह एक अलिखित नियम है कि जो सदस्य अनुपस्थित रहता है, चर्चा का विषय वही बनता है और उसकी निन्दा आरम्भ हो जाती है। वह अपनी निन्दा से बचने के लिए और यह सुनिश्चित करने के लिए कि किसी और की निन्दा आरम्भ होते ही वह लौट आए, वहाँ केवल अपनी उपस्थिति दर्ज कराने जा रही थी। यह दृष्टान्त दर्शाता है कि परनिन्दा (पैशुनम्) समाज में कितनी गहराई तक व्याप्त है। इस दुर्गुण से पूर्णतया मुक्त होकर, किसी की भी अनुपस्थिति में उसकी निन्दा न करने का सङ्कल्प ही **'अपैशुनम,'** नामक दैवीय गुण है।

दैवीय गुणसम्पदा का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् आगे कहते हैं:

"दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।"

इस श्लोक में **"दया भूतेषु"** का अर्थ है समस्त प्राणिमात्र के प्रति अन्तःकरण में करुणा का भाव धारण करना। चाहे वह प्यासा श्वान हो या छत पर आया हुआ कोई पक्षी, सभी के प्रति मन में दया होनी चाहिए। भारतीय संस्कारों में प्राणिसृष्टि का ध्यान रखने की समृद्ध रीतियाँ विद्यमान हैं। हमारे यहाँ भोजन निर्माण के समय तीन रोटियाँ अतिरिक्त बनाने की **परम्परा** है—एक गोग्रास हेतु, एक आकाशचारी पक्षियों (काक) हेतु और एक किसी अप्रत्याशित याचक हेतु। यहाँ तक कि पूर्व दिवस की अवशिष्ट रोटियाँ श्वान हेतु अर्पित की जाती हैं। यह व्यवस्था दर्शाती है कि हमारी संस्कृति में प्रत्येक जीव के प्रति संवेदनशीलता रची-बसी है।

अगला महत्वपूर्ण गुण है **"अलोलुप्त्वम्"**। इसका तात्पर्य है इन्द्रियों का उनके विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का अभाव। उदाहरणार्थ, स्वादिष्ट भोजन को देखकर जिह्वा की लोलुपता के वश में होकर आवश्यकता से अधिक खा लेना 'लोलुप्त्व' है, जबकि उस पर संयम रखना 'अलोलुप्त्व' है। यह नियम केवल जिह्वा पर ही नहीं, अपितु सभी इन्द्रियों पर लागू होता है—जैसे निरन्तर चलचित्र (रील) देखने की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखना (नेत्र), व्यर्थ की बातें सुनने से बचना (कर्ण) तथा स्पर्श-सुख की आसक्ति से मुक्त होना।

तत्पश्चात् श्रीभगवान् **"मार्दवम्"** की चर्चा करते हैं, जिसका अर्थ है कोमलता। किसी भी व्यक्ति, चाहे वह अपरिचित ही क्यों न हो, के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करना और कर्त्तापन के अभिमान का त्याग करना मार्दवम् कहलाता है। इसके साथ ही **"ह्री"** अर्थात् लज्जा का समावेश है। यह वह नैतिक चेतना है जो हमें किसी भी अनुचित कार्य को करने से पूर्व सचेत करती है। यदि मन में मर्यादा भङ्ग होने का भय और विवेक की लज्जा शेष है, तो वह दैवीय गुणसम्पदा का ही परिचायक है।

अन्त में **"अचापलम्"** का उल्लेख है, जिसका अर्थ है अचञ्चलता। चित्त की व्यग्रता का त्याग कर व्यवहार में स्थिरता और गम्भीरता धारण करना ही अचापल्य है। श्रीमद्भगवद्गीता सीख रहें हैं तो यह प्रयोग करके देखिए। एक निश्चय करके बैठना है। निश्चय है कि मैं आज एक घण्टा यहाँ से हिलूँगा नहीं। मैं गीता जी का अभ्यास कर रहा हूँ, एक घण्टा नहीं हिलूँगा। मैं ध्यान कर रहा हूँ, या मैं जप कर रहा हूँ, एक घण्टा नहीं हिलूँगा। एक घण्टा नहीं हिलने का निश्चय करके बैठना। यहाँ केवल उठना ही नहीं, अपितु हिलना भी वर्जित है, ताकि शरीर को स्थिर किया जा सके। भले ही कुर्सी पे बैठें लेकिन सीधे बैठें, एक घण्टे तक। यह है "**अचापलम्**"। इसी प्रकार, मानसिक अचापल्य का अर्थ है मन की चञ्चलता का त्याग, अर्थात् एक विषय पर बात करते हुए अनावश्यक रूप से दूसरे विषयों पर भटकने की प्रवृत्ति पर अङ्कुश लगाना। इस प्रकार की शारीरिक और मानसिक स्थिरता प्राप्त करना ही 'अचापलम्' है।

इसके पश्चात् श्रीभगवान् अन्य दैवीय गुणों का वर्णन करते हैं: **तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचम्, अद्रोहः** और **नातिमानिता**।

- **'तेजः'** अर्थात् आन्तरिक ओज व प्रभाव,
- **'क्षमाः'** अर्थात् क्षमा करने का स्वभाव, तथा
- **'धृतिः'** का अर्थ है धैर्य। छोटी-छोटी बातों से विचलित हो जाने की प्रवृत्ति पर विजय पाने के लिए धैर्य आवश्यक है। इसका एक सरल अभ्यास है— जब भी मन अशान्त हो तो कुछ क्षण रुककर दस-बारह गहरी श्वास लेने से धैर्य का स्तर स्वतः ही बढ़ जाता है।
- **शौचम्:** इसका तात्पर्य बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि दोनों से है। इसमें शरीर, वस्त्र और अपने घर तथा परिवेश की स्वच्छता सम्मिलित है।
- **अद्रोहः** इस गुण का अर्थ है किसी के भी प्रति मन में शत्रुता का भाव न रखना। यहाँ यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि विचारों में भिन्नता अर्थात् **'मतभेद'** हो सकता है, परन्तु उसे **'मनभेद'** अर्थात् शत्रुता में परिवर्तित नहीं होने देना चाहिए। हमारी संस्कृति में सायङ्काल दीपक जलाते समय की जाने वाली प्रार्थना इसी भाव को पुष्ट करती है:

दीपज्योतिः परब्रह्म दीपज्योतिर्जनार्दनः।
दीपो हरतु मे पापं दीपज्योतिर्नमोऽस्तुते ॥
शुभं करोति कल्याणमारोग्यं धनसंपदा।
शत्रुबुद्धिविनाशाय दीपज्योतिर्नमोऽस्तुते ॥

- यहाँ **"शत्रु-बुद्धि-विनाशाय"** कहकर 'शत्रु की बुद्धि' के विनाश की कामना की गई है, न कि शत्रु के विनाश की। प्रार्थना अपने ही भीतर स्थित शत्रुतापूर्ण बुद्धि के नाश के लिए है। मन में रखा गया वैर का भाव मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा को प्रभावित करता है और उसे प्रतिशोध के चक्र में फँसाकर पुनः ऐसे जन्म की ओर ले जाता है जहाँ उस वैर को चुकाया जा सके, अतः, मन से शत्रुता के प्रत्येक भाव को मिटा देना ही अद्रोह है।

- **नातिमानिता:** इसका अर्थ है अपने मान का अभिमान न करना, अर्थात् कर्तापन के अहङ्कार से सर्वथा मुक्त होना। व्यक्ति को अपने रूप, गुण, पद या धन का अहङ्कार हो सकता है। इन सबसे छुटकारा पाना ही दैवीय गुण है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण हनुमान जी हैं।

  हनुमान् जी महाराज के चरित्र में **"नातिमानिता"** का गुण लङ्का गमन के प्रसङ्ग में अत्यन्त कौतुकपूर्ण और शिक्षाप्रद रीति से परिलक्षित होता है। जब समुद्र लङ्घन के समय सुरसा ने अपना विशाल मुख विस्तार कर उन्हें ग्रास बनाने का हठ किया और कहा कि उन्हें उसके मुख में प्रवेश करना ही होगा, तब हनुमान् जी ने प्रतिरोधात्मक रूप से अपना आकार बढ़ाना आरम्भ किया, किन्तु शीघ्र ही अपनी शक्ति के प्रदर्शन के स्थान पर उन्होंने विवेक का आश्रय लिया और **"अति लघु रूप"** धारण कर लिया, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास महाराज श्रीरामचरितमानस में वर्णित करते हैं। वे सुरसा के मुख में प्रविष्ट हुए और इससे पूर्व कि वह अपना जबड़ा बन्द कर पाती, चपलता से बाहर निकल आए।

  हनुमान् जी का वह सूक्ष्म रूप धारण करना वस्तुतः उनकी 'शून्यता' का परिचायक था। यहाँ शून्य होने का वास्तविक अभिप्राय है— मन के **अहङ्कार** का पूर्णतः विसर्जन कर देना। जब व्यक्ति के भीतर से स्वयं को बड़ा सिद्ध करने का मोह और कर्त्तापन का मद निकल जाता है, तभी उसमें 'नातिमानिता' का उदय होता है। स्वयं को शून्य कर लेना ही वह आध्यात्मिक सामर्थ्य है, जिससे कठिन से कठिन बाधाओं को पार किया जा सकता है। यह 'नातिमानिता' ही दैवीय गुणसम्पदा का वह शिखर है, जहाँ पहुँचकर साधक मान-अपमान की वृत्तियों से ऊपर उठ जाता है।

श्रीभगवान् इन छब्बीस गुणों का वर्णन करने के पश्चात् कहते हैं- **"**

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत"

अर्थात् 'हे भरतवंशी! ये सभी लक्षण दैवीय सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के हैं।' यद्यपि श्रीभगवान् आगे यह स्पष्ट करते हैं कि अर्जुन इन दैवीय गुणों से सम्पन्न हैं, तथापि यह सम्पूर्ण वर्णन वस्तुतः हम सभी साधकों के लिए आत्म-निरीक्षण का एक अवसर है ताकि हम इन गुणों को अपने जीवन में विकसित कर सकें।

यहाँ दैवीय सम्पदा का वर्णन पूर्ण होता है। इसके पश्चात् श्रीभगवान् उन छः प्रमुख आसुरी सम्पदाओं का वर्णन आरम्भ करते हैं। आसुरी गुणों पर अधिक विस्तार से चर्चा इसलिए आवश्यक है क्योंकि सामान्यतः व्यक्ति में यही अवगुण अधिक प्रबल होते हैं और जो अधिक है, उसे कम करने के लिए उस पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। इन आसुरी गुणों का विवेचन अगले सत्र में किया जाएगा। विवेचन सत्र के समाप्त होने के पश्चात प्रश्नोत्तर सत्र आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता- सरिता श्रीवास्तव दीदी

प्रश्न- अर्जुन को ज्ञात था कि मेरे साथ श्रीभगवान् हैं तो उनके मन में इतने सारे संशय क्यों थे?

उत्तर- मेरे साथ में श्रीभगवान् हैं, ऐसा जानते हुए भी, अर्जुन का एक छोटे बालक की तरह का हठ है जो अपने प्यारे मामा से मिलने के बाद उनसे अपनी हर तरह की माँग पूरी करवाना जानता है और जब श्रीभगवान् ने ही अर्जुन को कह दिया कि-

भक्तोऽसि मे सखा चेति

अर्थात् तू मेरा भक्त नहीं बल्कि मित्र है तो अर्जुन को भी लगा कि अब तो जो भी संशय हैं जीवन के, वे सभी श्रीभगवान् से पूछ लेने चाहियें और अगर अर्जुन न पूछते तो हम जैसे लोगों का कल्याण कैसे होता? अर्जुन ने भी यह प्रश्न श्रीभगवान् से इसलिए पूछे क्योंकि इसका भी एक विधान था, ताकि आने वाली पीढ़ियों को श्रीमद्भगवद्गीता का प्रकाश सदैव मिलता रहे और शायद श्रीभगवान् भी यही चाहते थे कि ऐसा हो, क्योंकि श्रीभगवान् अर्जुन को कहते हैं कि तुम्हारे मन में अभी कोई और संशय हैं तो पूछ लो और फिर अर्जुन अट्ठारह अध्याय तक प्रश्न पूछते रहे। अर्जुन को पूरी तरह से संशय मुक्त करना ही श्रीभगवान् का उद्देश्य था। श्रीमद्भगवद्गीता जी में जो योग बताया गया, उतना सरल योग कोई भी नहीं, क्योंकि जब हम श्रीमद्भगवद्गीता को जानने लगते हैं तो ये सहजता से हमारी समझ में आने लगती हैं। आप श्रीमद्भगवद्गीता से जुड़ गए हैं तो श्रीभगवान् की उँगली पड़कर आगे बढ़ते रहिए, चमत्कार होता है कि नहीं इस पर अपना ध्यान केन्द्रित रखिए।

प्रश्नकर्ता- भूतेश्वर भैया

प्रश्न- दूसरे श्लोक में त्यागः(श) और तीसरे श्लोक में तेजः, अभिजातस्य का अर्थ स्पष्ट कर दीजिए।

उत्तर- त्याग का अर्थ है कुछ वस्तुओं का त्याग। आपके पास जो है उतना ही उचित है और अधिक की कामना और संसार में रहते हुए इस कामना का त्याग, इसको ही त्याग कहा गया है।

तेज का अर्थ है- संयमन का पालन करते हुए स्वयं को तेजस्वी बनाना और अभिजातस्य का अर्थ हुआ कि इन दैवीय सम्पदाओं को लेकर जो मनुष्य चलता है, उसके ये लक्षण हैं।

प्रश्नकर्ता- स्वाति दीदी

प्रश्न- हम अपनी अहङ्कार को नियन्त्रित कैसे कर सकते हैं?

उत्तर- अहङ्कार को नियन्त्रित करना एक कठोर तप है और यह तप भक्ति है। जैसे-जैसे भक्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हमारा अहङ्कार स्वयं से कम होता रहता है। जब हमें यह समझ आती है कि इस **सिन्धु का मैं छोटा सा बिन्दु हूँ** और इस जगत से मैं अकेला ही जाने वाला हूँ। जिस क्षण भीतर इस तरह का ज्ञान जाग्रत हो जाता है तो अहङ्कार स्वयं से घटने लगता है। ज्ञान के बढ़ने से, धन के बढ़ने से और गुणों से अहङ्कार बढ़ता है लेकिन भक्ति से यह कम होता रहता है।

प्रश्न- सत्त्वसंशुद्धिः(र्) का अर्थ स्पष्ट करें?

उत्तर- इसका सरल सा अर्थ यह है कि हमारे मन में पाप की भावना और शत्रुता की भावना न जगे। यदि हमारे मन में बुरा विचार भी आए तो भी हमारा मन अशुद्ध है।

सर्वभूतहिते रता: जैसी भावना मन में जाग्रत हो उससे हमारे मन की शुद्धता बढ़ती है।

प्रश्न- हम अध्याय एक से गीता जी के पठन को आरम्भ क्यों नहीं करते?

उत्तर- बारहवें अध्याय का पठन-पाठन सबसे अधिक सरल है। अध्याय की लम्बाई, उच्चारण की सरलता और अर्थ की सरलता के अनुसार ही परम पूज्य स्वामी जी ने गीता जी के पठन के लिए यह क्रम हमें प्रदान किया है कि धीरे-धीरे हम कठिन अध्यायों की ओर अग्रसर होते हैं और हमें गीता जी सुगमता से समझ आने लगती हैं।

प्रश्नकर्ता- अमृतलाल भैया

प्रश्न- महाभारत में द्रोपदी जी और रामायण में सीता जी को इतना दुःख क्यों झेलना पड़ा?

उत्तर- भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन देखिए तो भी हमें ऐसा ही लगेगा कि श्रीभगवान् को बहुत सारे कष्ट और दुःख झेलना पड़ा लेकिन श्रीभगवान् की ये लीलाएँ होती हैं। मानवमात्र के कल्याण के लिए श्रीभगवान् ऐसी लीलाएँ रच देते हैं। सीता माँ भगवान् राम के साथ वन में न जातीं तो भगवान् भी उनको ढूंढ़ने के लिए आगे न जाते और वास्तव में राम अपने रामत्व को प्राप्त ही न कर पाते। श्रीभगवान् तो सब कुछ जानने वाले हैं।

इस सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर कहानी है कि जब भगवान् राम चित्रकूट गए तो उनको मिलने के लिए वन देवता आते हैं और वह भगवान् को कहते हैं कि प्रभु बताइए, मैं आपकी किस प्रकार से सेवा कर सकता हूँ तो भगवान् राम ने कहा कि हे वन देव! आप केवल इतना कीजिए कि मैं जिस मार्ग से आया आप उसे निष्कण्टक कर दीजिए, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरा छोटा भाई भरत भागता हुआ मुझे ढूँढ़ता हुआ यहाँ पर आएगा और जब वह भागता हुआ आएगा तो उसके पाँव में काँटे न चुभ जायें। देखिए! भगवान् तो ऐसे हैं कि स्वयं काँटों पर चलकर आए हैं पर दूसरे के लिए काँटे निकालने का प्रबन्ध करते हैं, यही देवत्व होता है। श्रीभगवान् स्वयं पीड़ा झेलते हुए मनुष्य कल्याण के लिए लीलाएँ रचते हैं, ये सब श्रीभगवान् की लीलाएँ हैं और हम मनुष्य कई बार उन्हें समझ ही नहीं पाते हैं।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||